बीबीसी तरंगों पर उड़ते-उड़ाते

संजय शर्मा

सन् उन्नीस सौ बानवे समकालीन भारत के इतिहास का ऐसा साल है जिसे भुलाना मुश्किल है। उस वर्ष 6 दिसम्बर ऐसा दिन था जिसने अनगिनत लोगों को चोट पहुँचायी और अनेक गलियाँ बंद कीं। लेकिन सन् '92 ने कुछ अन्य रास्तों को खोला भी — ये वो काल था जब उपग्रह टेलीविज़न प्रसारण ने भारतीय उपमहाद्वीप में दूरदर्शन के तंग रास्ते की जगह चौराहे बनाने शुरु किये। ये अलग सवाल है कि प्रसारण और तरंगों के तमाम विकल्पों ने हमें नयी दिशाएँ दी हैं या अक्सर गोल-गोल घुमाया है...।

1992 में ही मैं भारतीय उपमहाद्वीप के औपनिवेशिक काल में पड़े अकालों पर शोध करने लंदन गया। शोध के साथ-साथ ब्रिटेन में बीबीसी देखने और रेडियो सुनने का भी मौक़ा मिला। सार्वजनिक प्रसारण के क्षेत्र में बीबीसी का स्थान काफ़ी अनूठा है। यह संस्था ब्रितानी करदाताओं के पैसे से चलती है जो उसे विज्ञापनों और प्रायोजकों पर दयनीय रूप से निर्भर नहीं बनाती। बीबीसी अजीब तरह से स्वायत्त है। भारत में दूरदर्शन और आकाशवाणी के साये में पली-बढ़ी पीढ़ी के लिए यह समझना मुश्किल हो जाता है कि अगर कोई संस्था सरकारी पैसे पर जी रही हो तो वह सरकार की क्या ख़ाक आलोचना करेगी? लेकिन बीबीसी को ब्रितानी समाज की विशिष्टताओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। मिसाल के तौर पर ब्रितानी टेलीविज़न के हास्य धारावाहिकों को लिया जा सकता है। इनमें अक्सर ब्रितानी तौर-तरीक़ों, नज़रियों और वर्गीय ढाँचे पर बेहतरीन और करारा व्यंग्य किया जाता है। कई बार अंग्रेज़ी भाषा का ऐसा चतुर और छलावेदार इस्तेमाल दंग करने वाला होता है। और राजनीतिक व्यंग्य की परंपरा तो इतनी मज़बूत है कि इसमें महारानी और प्रधानमंत्री तक को नहीं बख़्शा जाता है। जो समाज अपनी महारानी के कंधे को सहारे देने वाले पर बिफ़र उठता है और जिसकी महारानी सफ़ेद दस्ताने पहन कर किसी से हाथ मिलाती है (ताकि त्वचा का स्पर्श न हो) वहाँ के हास्य-व्यंग्य कार्यक्रमों में महारानी के शौच-कर्म और प्रधानमंत्री के यौन-जीवन पर खुल कर काल्पनिक स्थितियाँ गढ़ी जाती हैं। तथाकथित stiff upper lip संस्कृति के इस उच्छृंखल रूप को कैसे समझा जाये? शायद यह उनके सांस्कृतिक आत्मविश्वास की उपज है।

ब्रितानी लोगों में यह गहरा आत्मविश्वास मौजूद है कि अगर ब्रितानी लोकतंत्र, राजशाही, उपनिवेशवाद या कमज़ोर होती अर्थव्यवस्था का कोई सबसे अच्छा मज़ाक उड़ा सकता है तो स्वयं ब्रितानी लोग ही हैं। इसमें एक चतुरायी भी है कि इससे पहले कोई और आपका मज़ाक उड़ाये आप खुद ही यह काम कर लें। मुझे यह बात काफ़ी खटकी कि सदियों पुरानी सभ्यता होने के बावजूद भारत में हम हँसी-मज़ाक के प्रति अक्सर काफ़ी संवेदनशील हो जाते हैं। हम आदर और परंपरा के बोझ से इतने गंभीर और पीड़ित हो जाते हैं कि हँसना भूल जाते हैं। हमने गाँधी जी को राष्ट्रपिता के रूप में स्थापित कर दिया मगर यह भूल गये कि गाँधी जी में स्वयं बेहतरीन sense of humour था। गाँधी जी के कितने ही क़िस्से और जवाब लोक-जीवन में 'मुग़ल-ए-आज़म' और 'शोले' के संवादों से कहीं पहले दोहराये जाते रहे हैं (गाँधी जीः मैं रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में इसलिए सफ़र करता हूँ

क्योंकि चौथा दर्जा नहीं है, भारत में भी Ford गाड़ी है — बैल गाड़ीः Ox-ford)। लेकिन गाँधी जी को सार्वजनिक जीवन में हमने महिमामंडित करके ऐसे गंभीर पितामह के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है जिससे उनकी मशहूर विनोदप्रियता छिप गयी है। उसे वापस लाना हमारे जन-माध्यमों और सांस्कृतिक मूल्यों के लिए एक बड़ी चुनौती है।

बहरहाल जब मुझे बीबीसी हिन्दी सेवा के लिए प्रसारण करने का मौक़ा मिला तो ज़िंदगी में बेहद दिलचस्प और बहुत कुछ सिखाने वाला अध्याय जुड़ गया। मेरे ख़याल से टेलीविज़न के प्रसार से पहले कम से कम उत्तर भारत में जो भी रेडियो के साथ पला-बढ़ा है वह बीबीसी हिन्दी प्रसारण से अछूता या अनजान रहा हो यह संभव नहीं। सत्तर के दशक में ख़ासकर आपातकाल के दौरान बीबीसी सुनना एक पवित्र कर्म था — हर उस व्यक्ति के लिए जो कोई विकल्प की तलाश में था, जिसमें जानकारी की भूख-प्यास थी या जो सोचने-विचारने वाला था मगर ज़रूरी नहीं कि पढ़ा लिखा हो। सुदूर दुर्गम इलाक़ों में, गाँवों-क़स्बों में मौजूद स्थानीयता का भाव रेडियो की सुई घुमाते ही एक व्यापक वैश्विक अनुभव से घुल-मिल जाता था। आज के ग्लोबल टेलीविज़न चैनेल जो रिमोट का बटन दबाते ही उपलब्ध हैं उन्हें देखने की आसानी में वो सुख कहाँ जो शॉर्ट वेव पर बीबीसी ढूंढ कर लगा लेने में था। ज़रा सा चूके या हिले तो आवाज़ ग़ायब। और प्रसारकों की आवाज़ भी ग़ज़ब तरीक़े से आती — समुंदर की लहरों की तरह बहुत दूर से आने का अहसास दिलाती हुई और सराबोर कर देने वाली। रेडियो तरंगें जैसे जल-तरंग बजाती हुईं।

बीबीसी के इस चुम्बकीय आकर्षण की यादों के साथ जब मैंने लंदन स्थित 'बुश हाउस' में हिन्दी सेवा के कार्यक्रमों में हिस्सा लेना शुरु किया तो मैं तमाम आशंकाओं से ग्रस्त था। एक ओर तो ये अहसास था कि जिस विभाग से बलराज साहनी, जॉर्ज ऑर्वेल, मॉर्क टली (जिन्हें आज भी भारत में बहुत लोग प्यार से तुली साहब कहते हैं) जैसे लोग कभी जुड़े थे उसकी संपन्न विरासत के साथ न्याय कैसे किया जाये। दूसरी तरफ़ विचारधारा-संबंधी अपने कई संशय भी थे। आख़िर बीबीसी ने ग़ुलाम हिंदुस्तान के लिए द्वितीय विश्व-युद्ध के समय प्रसारण शुरु किया था — क्या ऐसी संस्था अपने औपनिवेशिक अतीत की छाया से मुक्त होगी? क्या समृद्ध और सुविधा-सम्पन्न लंदन में बसे बीबीसी में कार्यरत लोग भारत के ज़मीनी यथार्थ की बारीकियों और दर्द को समझते हैं? क्या भारतीय समाज की सुगबुगाहट को फ़ोन-फ़ैक्स या इंटरनेट की वर्चुअल (virtual) दुनिया में महसूस किया जा सकता है? और वस्तुपरकता (objectivity) के प्रति उदारवादी प्रतिबद्धता और निष्पक्षता (neutrality) के दावे क्या स्थापित मूल्यों को चुनौती देने में आड़े नहीं आयेंगे? ऐसे कितने ही सवाल उठे जो आज भी मौजूद हैं — कुछ के संतोषजनक जवाब मिले, कुछ भ्रांतियाँ टूटीं, कुछ मोहभंग भी हुआ।

हालाँकि बीबीसी वर्ल्ड सर्विस के प्रसारणों का ख़र्च ब्रिटेन का विदेश मंत्रालय उठाता है किन्तु संपादकीय फ़ैसलों पर उसकी पकड़ वैसी नहीं है जैसी अन्य देशों के मीडिया-सेठों या सरकारों की होती है। बल्कि ये कहना ही होगा कि रोज़मर्रा के कामकाज में बीबीसी में मैंने काफ़ी स्वतन्त्रता देखी। हाँ, ये कहा जा सकता है कि सब कुछ एक व्यापक उदारवादी ढाँचे में होता है जिसमें आलोचना और विरोध की धार का पैनापन कुंद हो जाता है। भारत में दूरदर्शन और ऑल इंडिया रेडियो पर सरकारी शिकंजे ने बीबीसी की साख बढ़ाने में विशेष योगदान दिया है। बीबीसी द्वारा निष्पक्षता, स्वतंत्रता और विश्वसनीयता के दावों की जड़ें औपनिवेशिक दौर में खोजी जा सकती हैं जब अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान में बहुत लोग तटस्थ, निष्पक्ष, वक़्त का पाबंद और नैतिक रूप से ईमानदार मानते थे। इसका कुछ अंश शायद आज भी बीबीसी के पुराने और वफ़ादार श्रोताओं में मौजूद है।

बीबीसी ब्रितानी समाज की तरह कई मायनों में परंपरावादी है। हालाँकि इसमें आज सैंकड़ों

ग़ैर-ब्रितानी लोग काम करते हैं किन्तु शीर्ष पदों पर और नाज़ुक विषयों पर ख़बरें देने का काम श्वेत लोग ही अधिक करते हैं। हाल के वर्षों में बीबीसी टीवी और रेडियो में ग़ैर-युरोपीय चेहरों की उपस्थिति बढ़ी है किन्तु इनमें से भी अधिकाँश लोग वो हैं जो ब्रिटेन में पले-बढ़े हैं। साथ ही अंग्रेज़ी के तमाम लहज़ों को पहले की तुलना में सम्मानजनक जगह मिली है। किसी ज़माने में ऑक्सब्रिज लहज़े वाली अंग्रेज़ी का दबदबा था लेकिन अब वेल्श, स्कॉट या दक्षिण एशियाई लहज़े वाली अंग्रेज़ी से बीबीसी को परहेज़ नहीं। मगर इससे ऊँच-नीच और भेदभाव की मनोवृति कितनी कमज़ोर हुयी है? या बीबीसी को केवल ज़माने की हवा लग गयी है जिसके चलते वह पोलिटिकली करेक्ट हो गयी है? बहरहाल नस्लवाद पर बहस काफ़ी जटिल है... वह फिर कभी।

रेडियो प्रसारण की अहम् ज़रूरतें हैं भाषा, स्वर और उच्चारण; और मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि मेरी आवाज़ और भाषा को प्रसारण के क़ाबिल माना गया। अपनी आवाज़ को माइक्रोफ़ोन और टेप पर जाते देखना बड़ा ही डेमोक्रेटाइज़िंग अनुभव था — इससे पहले मैं तो यहीं सोचता था कि आवाज़ उन्हीं की रेकॉर्ड होती है जो मोहम्मद रफ़ी, लता मंगेशकर, किशोर कुमार या अमीन सयानी के आस-पास हों। जहाँ तक भाषा का सवाल है तो एक श्रोता के रूप में मैं बीबीसी द्वारा हिन्दी के विविध प्रयोगों से वाक़िफ़ था। हिन्दी सेवा के भाषा संबंधी कुछ मानक तो हैं लेकिन वो मुहावरे रहित सरकारी हिन्दी की कभी क़ायल नहीं रही। और रहती भी कैसे? हिन्दी खाड़ी के देशों से लेकर पूरे दक्षिण एशिया में तरह-तरह से बोली जाती है। बीबीसी के अनेक क्षेत्रीय संवाददाताओं की रिपोर्टों में जनपदों का रंग घुला होता है। ये उसकी ख़ूबी है। बीबीसी हिन्दी सेवा, हैदराबादी, बंगाली, गुजराती या 'मद्रासी' शैली में ग़ज़ब की चोखी हिन्दी परोसती है। उसके करोड़ो श्रोता अंचलों में रहते हैं जिन्हें लंदन से प्रसारित अपने लहज़े की हिन्दी भाव-विभोर कर देती है। इसका मतलब ये नहीं कि हिन्दी के स्वरूप को लेकर बीबीसी हिन्दी सेवा में तनाव और बहस नहीं है। वहाँ भी मुद्दे वहीं हैं जो हिन्दी सार्वजनिक क्षेत्र में बरसों से हैं। मसलन क्या शुद्ध शब्दों की जगह ऐसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाये क्योंकि उन्हें हिन्दी पत्रकारिता ने चला दिया है — जैसे accused के लिए अब 'आरोपी' धड़ल्ले से लिखा जाता है या मुख़ालफ़त की जगह 'ख़िलाफ़त' जो ग़लत है। कुछ लोगों का मानना है कि क्षेत्र को 'छेत्र' बोलने में कोई हर्ज नहीं और नुक़्ते का सवाल हमेशा विवादों के घेरे में रहा है। यह दिलचस्प तथ्य है कि आज़ादी के पहले की हिंदुस्तानी सेवा बाद में इंडियन सेक्शन और पाकिस्तानी सेक्शन में बँट गयी। कालांतर में ये हिन्दी सेवा और उर्दू सेवा कहलायी। यह विभाजन दुर्भाग्यपूर्ण ही है — हिन्दी और उर्दू सेवाओं में जो दोस्ती है उसे देखते हुए उनके अलग होने का क्या औचित्य है? कम से कम बीबीसी में हिन्दी-उर्दू के लिए राष्ट्रवाद के तक़ाज़ों से ऊपर उठने की संभावना थी। पाकिस्तानी सेवा को उर्दू सेवा में तब्दील कर वही ऐतिहासिक भूल हुई जो बार-बार दोहरायी जाती रही है — क्या उर्दू सेवा के कार्यक्रम भारत में उर्दू-भाषियों के लिए नहीं हैं? यह सवाल आज भी बीबीसी के सामने मुँह बाये खड़ा है। वर्ल्ड सर्विस ने 'राष्ट्रवाद' की सर्विस क्यों करनी शुरु की? और अगर करनी ही थी तो बांग्लादेश बनने के बाद बांग्ला सेवा को पश्चिम बंगाल और बांग्लादेश के लिए तोड़ देना चाहिए था।

यूँ बीबीसी की तटस्थता और निष्पक्षता दक्षिण एशिया की दुखती रगों को बराबर छूती रहती है। कश्मीर को भारत अधिकृत कश्मीर या पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर कह कर दोनों देशों के 'देशभक्तों' की भावनाओं को ठेस पहुँचायी गयी लेकिन यह तटस्थता की माँग थी। बाद में भारतीय कश्मीर जैसी शब्दावली के प्रयोग से 'देशभक्तों' को कुछ राहत मिली। लेकिन कई बार बीबीसी के विदेश संवाददाताओं की तटस्थ और वस्तुपरक शैली में उनके रुझान और स्थापित मान्यताएँ साफ़ झलकती हैं। ख़ासकर जब पूर्व सोवियत संघ, साम्यवाद या उन समाजों की चर्चा होती तो पश्चिमी सभ्यता से भिन्न हैं। इनसे संबंधित रिपोर्टों में पूर्वाग्रह और प्राच्यवादी (orientalist) धारणाएँ अक्सर स्पष्ट दिखती हैं। मिसाल के तौर पर जब रूस के तत्कालीन राष्ट्रपति येल्त्सिन गंभीर रूप से बीमार पड़े तो मॉस्को संवाददाता ने ख़बर दी कि इसका कारण अत्यधिक शराब का सेवन है। लेकिन साथ ही उसने ये भी जोड़ा कि रूस में शराबियों की संख्या कितनी है और रूस में शराब से मरने वालों की औसत उम्र येल्तसिन की आयु से कम है। यानी इस हिसाब से क्या येल्तसिन को पहले ही मर जाना चाहिए था? आख़िर देश के राष्ट्रपति को

राष्ट्रीय औसत का सम्मान करना चाहिए था! मुझे लगता है भारत में मार्क टली को जो इज़्ज़त मिली उसके पीछे एक बड़ी वजह है उनका भारतीय समाज के प्रति ऐसा नज़रिया जो सिर्फ़ आलोचना नहीं करता बल्कि तय मान्यताओं और रूढ़ियों का उनके परिवेश में रख कर परीक्षण करता है। लेकिन अनेक पश्चिमी टीकाकार भारतीय समाज, संस्कृति और राजनीति को केवल धर्म और जाति के माध्यम से समझते हैं। इस सरलीकरण से दक्षिण एशियाई समाज में क्रिकेट, हिन्दी फ़िल्मों और शाहरुख़ ख़ान, आमिर ख़ान, सलमान ख़ान की लोकप्रियता को कैसे समझा जा सकता है? और कैसे समझेंगे आप भारतीय समाज की अजब और जटिल आधुनिकताएँ — जिस समाज में वॉशिंग मशीन का इस्तेमाल दूध मथने के लिए किया जा सकता है, जहाँ कम्प्यूटर जैसी अति आधुनिक चीज़ दहेज में ली/दी जाये, जहाँ नाश्ते में पराँठे के साथ वाइन परोसी जा सकती हो और जहाँ मेलों में कम्प्यूटर से जन्म कुंडलियाँ बनायी जाती हैं — ऐसे समाज को निश्चित, स्थिर, और पूर्व-निर्धारित मान्यताओं से भला किस प्रकार समझा जा सकता है — लेकिन यह बीबीसी समेत अनेक पश्चिमी प्रेक्षकों की भाषा और दृष्टि में अक्सर दिखायी पड़ता है।

यह समस्या बीबीसी के अंग्रेज़ी संवाददाताओं की रिपोर्टों के अनुवाद में भी पैदा होती है। चूँकि हिन्दी सेवा के संवाददाता सारी दुनिया में नहीं हैं — होना संभव भी नहीं है — इसलिए हिन्दी में दिये जा रहे अन्तर्राष्ट्रीय समाचार और विशेष रिपोर्टें बीबीसी के विदेश-संवाददाताओं के अंग्रेज़ी डिस्पैचों के अनुवाद होते हैं। यहाँ समस्या अंग्रेज़ी के मुहावरों के हिंदीकरण की होती है। मसलन अंग्रेज़ी भाषा में 'hundreds of thousands' का अक्सर प्रयोग होता है लेकिन हिन्दी में 'सैंकड़ों-हज़ारों' कहने से बेहिसाब संख्या का अहसास नहीं होता। चूँकि भारत की आबादी दुनिया में दूसरे नंबर पर है इसलिए किसी भी तथ्य को आँकड़े से पुष्ट बनाने में अंग्रेज़ी के शब्द कई बार कामयाब नहीं होते। जैसे millions of people को कैसे व्यक्त किया जाये? लाखों या करोड़ों लोग? भारत में कुंभ मेले में एकत्र लोगों के लिए millions शब्द हल्का ही जान पड़ता है। सिक्के का दूसरा पहलू तब उजागर होता है जब तरह-तरह के लोगों की संख्या भारत के लिए सबसे बड़ी बतायी जाती है। हालाँकि ये प्रवृति देश-विदेश के तमाम जन-संचार माध्यमों में दिखती है। जैसे कहा जाता है कि दुनिया के सबसे अधिक नेत्रहीन भारत में हैं। इस हिसाब से भारत में सबसे ज़्यादा निरक्षर, चोर, प्रेमी, बलात्कारी, परोपकारी, निरंकारी... भी हो सकते हैं। ऐसे 'तथ्यों' से युक्त रिपोर्टें ख़बरें कम, गिनिस बुक ऑफ़ रिकॉर्ड्स का अंश ज़्यादा नज़र आती हैं।

प्रसारण की भाषा में देशज शब्दों के प्रयोग से अश्लीलता टपकने की आशंका बनी रहती है। भले ही ऐसे शब्द बेहद सटीक हों। अब female homosexuality को लें। अंग्रेज़ी में उसे lesbianism कहा जाता है मगर हिन्दी में उसका अनुवाद अपर्याप्त सा लगता है। शायद इस वजह से भी क्योंकि भारतीय समाज में महिलाओं के बीच यौन-संबंधों को मानने या मान्यता देने के लिए लोग तैयार ही नहीं होते। जब अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति बिल क्लिंटन के रंगीले यौन जीवन की ख़बरें सुर्ख़ियों में थीं तो उनके व्यवहार के लिए तरह-तरह के शब्द खोजे जा रहे थे। लेकिन बड़ी दुविधा थी। अमेरिका के राष्ट्रपति को क्या लम्पट कहा जाये, दुराचारी या लंगोट का कच्चा? समझने वाले समझ गये, जो ना समझे वो अनाड़ी हैं। वैसे अनुवाद का काम अनाड़ी हाथों में पड़ने के ख़तरे कम नहीं हैं। कुछ मिसालें नोश फ़रमाइये — Banana Republic: केला गणतंत्र, exchange of fire: अग्नि का आदान-प्रदान, Port of Spain: स्पेन का बंदरगाह, secular economic growth: धर्मनिरपेक्ष आर्थिक विकास। अंग्रेज़ी भाषा या किसी भी भाषा से तर्जुमा करते समय मुहावरेदार हिन्दी लिखने की चुनौती उठानी पड़ेगी ही लेकिन इसकी पहली ज़रूरत है common sense वर्ना हालत चुटकुले के उस व्यक्ति की तरह होगी जिसने हिन्दी में अपना नाम बताया सूर्यप्रकाश और अंग्रेज़ी में सनलाइट!

यह बात सर्वज्ञात है कि अनुवाद में मूल शब्द छिटक कर दूसरी संस्कृति के विमर्श में प्रवेश कर जाता है। जब ब्रिटेन में Mad cow disease फैली तो उसे पागल गाय रोग कहा गया। भारत में मुझसे बीबीसी के एक आहत श्रोता ने शिकायत की... "भारत में गाय पवित्र होती है पागल इंग्लैंड में होती होगी!" शायद इसी तर्क का इस्तेमाल करके अनेक धार्मिक हिंदू विलायत में यह कह कर गोमाँस खा लेते हैं कि विदेशी गाय पवित्र या पूजनीय नहीं होती! मुझे इंग्लैंड में ऐसे कई भारतीय मिले जो बहुत सारे हिंदुस्तानियों की तरह मंगलवार को माँस-मदिरा का सेवन नहीं करते। लेकिन इंग्लैंड में सात साढ़े-सात बजे घड़ी देखते रहते। चूँकि भारत में समय

BBCHindi.com

मौसम अनुसार ब्रिटेन से साढ़े चार या साढ़े पाँच घंटे आगे रहता है इसलिए जैसे ही भारतीय समयानुसार मंगलवार ख़त्म हो कर बुधवार शुरु होता, वे बिना किसी अपराध-बोध के माँस-मदिरा पर टूट पड़ते।
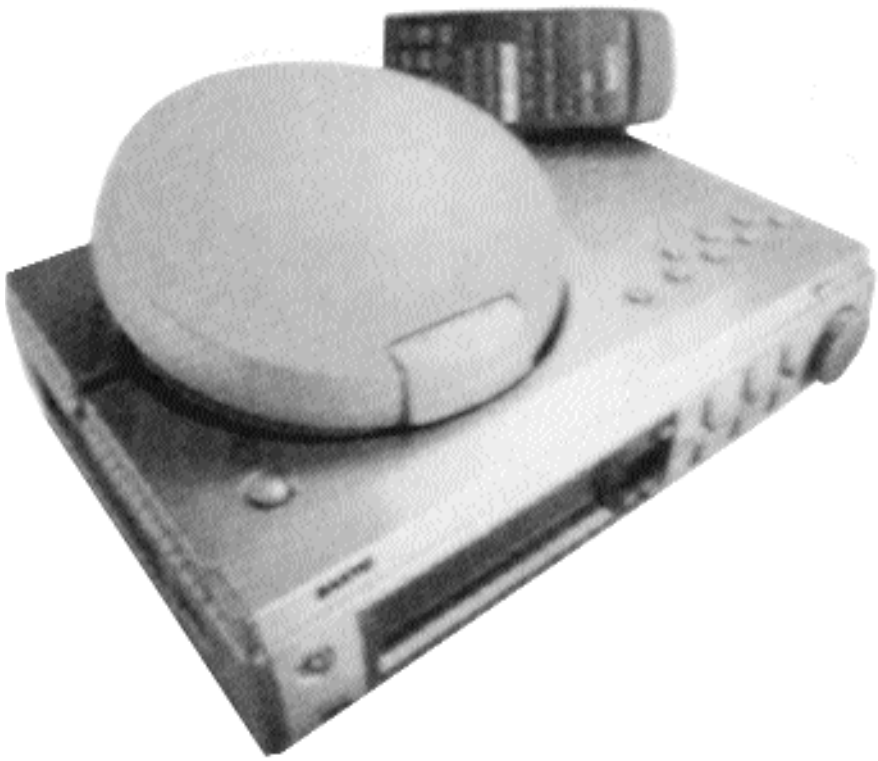
बीबीसी हिन्दी सेवा साठ वर्ष पार कर गयी है। षष्ठिपूर्ति के बाद भी यह भारतीय प्रसार-माध्यमों में देवानंद की तरह सदाबहार बनी हुई है, मगर कब तक? और वह कैसे मुक़ाबला करेगी नयी सूचना तकनीक और हिन्दी के निरंतर बड़े होते बाज़ार की माँगों का? क्या एफ़एम की तरंगें शॉर्ट वेव को निगल जायेंगी? क्या चटपटी हिंग्लिश सोंधी हिन्दुस्तानी को खा जायेगी? क्या Internet का श्रोता गाँव के साधनहीन श्रोता पर भारी पड़ पायेगा? वह श्रोता जिसके लिए कोई बात इसलिए सही है, अकाट्य सत्य है, क्योंकि उसने बीबीसी पर उसे सुना होता है। क्या पत्रकारिता में निहित तात्कालिकता गंभीर विश्लेषण और दूरदृष्टि को नष्ट कर देगी? क्या सबसे पहले और सबसे तेज़ ख़बर देने की कोशिश में बीबीसी रेडियो अपनी विश्वसनीयता और संतुलन खो तो नहीं देगा? ऐसे अनेक सवाल बीबीसी से जुड़े लोगों और श्रोताओं को मथ रहे हैं, बेचैन कर रहे हैं — लेकिन शुरुआत भी हो चुकी है। हिन्दी जगत आम तौर पर नयी प्रौद्योगिकी को अपनाने से घबराता है लेकिन हिन्दी सेवा के प्रसारण आज आसानी से नेट पर सुने जा सकते हैं। हिन्दी वेबसाइट पर देवनागरी से नये प्रयोग किये जा रहे हैं। तमाम स्थानीय पत्रकार और उनकी बोलियों के लहज़े मानक हिन्दी को चुनौती देने के साथ समृद्ध भी बना रहे हैं। कार्यक्रमों में लाइव रिपोर्टस और साक्षात्कारों का बड़ा अंश है और विज्ञान, राजनीतिक विवेचना और खेल-कूद पर रूपक बीबीसी के प्रसारणों को पूर्णता प्रदान करते हैं। आख़िर विज्ञापनों के बिना किसी भी कार्यक्रम को सुनना अपने आप में अनोखा और राहत पहुँचाने वाला अनुभव है। टेलीविज़न की वजह से श्रोता भले ही कम हुये हों किन्तु रेडियो को अब टेलीविज़न के केवल प्रतिस्पर्धी नहीं बल्कि पूरक के रूप में देखा जा रहा है। और आज भी संकट में लोगों को बीबीसी याद आता है — यानी ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग इन क्राइसिस।